BIHAR SHODH SAMAAGAM, VOL. 2, ISSUE 1, p.p 23-26
(2024)

'कंकाल' यथार्थ का आईना'

दिनेश

सारांश :

प्रसाद ने यथार्थवाद को ध्यान में रखते हुए 'कंकाल' का प्रणयन किया था। यह एक समस्या प्रधान उपन्यास है जिसमें जीवन की सम्पूर्ण त्रासदी का यथार्थ रूप में वर्णन किया गया है। स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो 'कंकाल' में यथार्थ का आग्रह है जीवन के सभी समस्या पक्षों पर इनमें नए सिरे से विचार किया जाता है। धर्म, समाज, स्त्री, जाति, आस्था या जीवन का अन्य प्रसंग जो यथार्थ रूप में समाज में आच्छादित है, को प्रसाद ने भरपूर उभारा है।

''कंकाल में ऐसा अभिशप्त समाज है जो अपनी मूल धुरी से उतर चुका है। मंगल, विजय, घंटी, यमुना, गाला जैसे कमोवेश सभी पात्र धर्म और आस्था के विद्रूप को सामने लाते हैं। धर्म और समाज के तथाकथित सफेदपोश ठेकेदार सभी अहमन्नय, अमानुष, वर्णसंकर हैं, जातिगत श्रेष्ठता का मिथ्या दंभ उन्हें मनुष्य नहीं रहने देता। स्त्री की दयनीयता सामाजिक यंत्रणा का एक अन्य कोंण है।''1

इस उपन्यास में व्यक्त यथार्थ के नग्न दृश्यों को देखते हुए कभी–कभी यह रचना प्रसाद की नहीं लगती है। समाज में कितनी कुरीतियाँ हैं जिनका यथार्थ प्रसाद ने इस उपन्यास में दिखाया है। आलोचकों का एक वर्ग मानता है कि प्रसाद ने इस उपन्यास में केवल समाज के कृष्ण पक्ष का ही यथार्थ प्रस्तुत किया है। समाज में शुक्लता की भी जगह है। वहाँ केवल स्याह ही फैला नहीं है, प्रसाद को चाहिए था कि वे दोनों पक्षों का यथार्थ प्रस्तुत करते !

यहाँ यह कहना उचित होगा कि यथार्थ, समाज की चिंता को प्रस्तुत करता है, तो वे इसका उज्ज्वल पक्ष कैसे प्रस्तुत करते ? डॉ. रामरतन भटनागर ने कुछ अलग माना है– ''जिस शैली का चित्रण 'कंकाल' में है उसे हम यथार्थोन्मुख कह सकते हैं, परन्तु वह सम्पूर्णः यथार्थ है नहीं। वैसे उसमें हमारे मध्यवर्गीय समाज के नित्य–प्रति के जीवन के सैकड़ों चित्र मिल जाते हैं।''2

'कंकाल' वास्तव में समाज को उसके घिनौने स्वरूप का आईना दिखाता है। इसमें नागरिक जीवन के खोखलेपन का वीभत्स दृश्य मौजूद है। इसे बिना निश्चित ही असंतुलित होना है। 'कंकाल' में ऐसे कई संवाद हैं जो हमें भीतर तक बिंधता है। क्या समाज पतन के जाल में इतना फँसा है ? प्रसाद ने यथार्थ को प्रस्तुत कर हमें विचलित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। वेश्यावृत्ति समाज का घोर अभिशाप है। इस यथार्थ को प्रस्तुत करने में जो संवाद हैं। उसे देखने की आवश्यकता है– ''मेरा भगवान जानता है कि कैसे कटती है ! दुष्टों के चंगुल में पड़कर मेरा आहार–व्यवहार तो नष्ट हो चुका, केवल सर्वनाश होना बाकी है। उसमें कारण है अम्मा का लोभ और मेरा कुछ आने वालों से ऐसा व्यवहार भी होता है कि अभी वह जितना रूपया चाहती है, नहीं मिलता। बस, इसी प्रकार बची जा रही हूँ; परन्तु कितने दिन !''3

समाज में स्त्रियों का व्यापार आए दिन होता है। जिस देश में नारी पूजित हैं, वहाँ स्त्रियों का व्यापार विचलित करता है। स्त्रियाँ भोग्या बना दी गई हैं। एक सभ्य समाज की ऐसी मनोवृत्तियों को निर्लज्ज कहना ही उचित होगा। एक और संवाद इस प्रकार है–''तुम्हारे सामने जिस दुष्टा ने मुझे फँसाया, वह स्त्रियों का व्यापार करने वाली एक संस्था की कुटनी थी। मुझे ले जाकर उन सबों ने एक घर में रक्खा, जिसमें मेरी ही जैसी कई एक अभागिनें थीं; परन्तु उनमें सब मेरी जैसी रोने वाली न थीं। बहुत–सी स्वेच्छा से आई थीं और कितनी ही कलंक लगने पर अपने घर वालों से ही मेले में छोड़ दी गई थीं। मैं अलग बैठी रोती थी। उन्हीं में से कई मुझे हँसाने का उद्योग करतीं, कोई समझाती, कोई झिड़कियाँ सुनातीं और कोई मेरी मनोवृत्ति के कारण मुझे बनातीं। मैं चुप होकर सुना करती; परन्तु कोई पथ निकलने का न था।''4

यह संवाद उस यथास्थिति से अवगत कराता है जो यथार्थ से परिपूर्ण है। वास्तव में वेश्या बना दी गई स्थिति के साथ समाज के कुछ हवशियों द्वारा ऐसा किया जा रहा है। इस स्थिति में स्त्रियों को खुद की स्त्री लेने पर चिढ़ होना स्वाभाविक है।

प्रसाद जीवन के प्रत्येक प्रसंगों को अपने साहित्य में समाहित करते हैं। पात्रों के संवाद जीवन की अंतरतम वेदना को प्रकट करता है। वास्तव में उनमें यथार्थवादी बोध है। उनमें

दिनेश (शोधार्थी)
विभाग – हिन्दी
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

विषाद भाव की अभिव्यक्ति गहरी है। प्रसाद ने अपने चारों ओर जिस तरह का निराश, जर्जर, संकुचित, अराजक और निकृष्ट समाज देखा था, उसे ही उन्होंने अपने उपन्यासों में स्थान दिया। भारतीय समाज कई विसंगतियों से अभिप्रेरित रहा है। प्रसाद ने इसकी तरह लगातार इशारा किया है।

सुधाकर पाण्डेय ने स्वीकारा है– ''प्रसाद अपनी रचना–यात्रा में जीवन और जगत की जटिलतम समस्याओं से टकराते हैं और इस टकराहट से उनका चिंतक व्यक्तित्व क्षुब्ध दिखाई पड़ता है। आजीवन गरन का पान करने वाले प्रसाद अपने दार्शनिक और मूल्यादर्शपरक चिंतन से यथार्थ दर्शन से उद्भूत पीड़ा और यंत्रणा को एक सीमा तक सहज बनाने का प्रयास करते हैं। किसी भी मान्यता को आर्द्रवचन मानकर वे स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक मत–मान्यता को वे प्रश्नांकित करते है।''5

प्रसाद समाज के सभी पीड़ादायक दृश्यों को देखकर व्यथित होते हैं। उन्होंने सामाजिक यथार्थ का वीभत्स रूप भी इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। उपन्यास का एक यथार्थ हमें भीतर तक झकझोरता है– ''दासियाँ जूठी पत्तल बाहर फेंक रही थीं। ऊपर की छत से पूरी और मिठाइयों के टुकड़ों से लदी हुई पत्तलें उछाल दी जाती थीं। नीचे कुछ अछूत डोम और डोमिनयाँ खड़ी थीं, जिनके सिर पर टोकरियाँ थीं, हाथ में डंडे थे जिनसे वे कुत्तों को हटाते थे और आपस में मार–पीट, गाली–गलौच करते हुए उस उच्छिष्ट की लूट मचा रहे थे.... वे पुश्त–दर–पुश्त के भूखे।''6

आगे एक और यथार्थ– ''मालकिन झरोखे से अपने पुण्य का यह उत्सव देख रही थी। और देख रही थी– एक राह की थकी हुई भूखी दुर्बल युवती भी। उसी भूख की, जिससे वह स्वयं अशवत हो रही थी, यह वीभत्स लीला थी ! वह सोच रही थी– क्या संसार भर में पेट की ज्वाला, मनुष्य और पशुओं को एक ही समान सताती है ? ये भी मनुष्य हैं और इसी धार्मिक भारत के मनुष्य हैं– जो कुत्तों के मुँह के टुकड़े भी छीनकर खाना चाहते हैं ! भीतर जो पुण्य के नाम पर धर्म के नाम पर गुलछर्रे उड़ रहे हैं, उसमे वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तलों के लूटने का दृश्य बतला रहा है। भगवान ! तुम अंतर्यामी हो।''7

यह दृश्य वास्तव में जीवन की करूण–व्यथा है। समाज के दलित वर्ग डोम डोमिनियाँ आज भी जूठे खाने को विवश हैं। भोजन के लिए मार–पीट, गाली गलौच ! यह एक सभ्य समाज की बात हो नहीं सकती है। प्रसाद ने ऐसी स्थिति में भगवान को भी याद किया है। भोजन के लिए इसे समाज का तमाशा ही स्वीकारा जा सकता है। मालकिन द्वारा इस दृश्य को पुण्य के उत्सव के साथ देखना वास्तव में घृणित है। ऐसे दृश्य आज भी यत्र–तत्र दिख पड़ते हैं। इसी तरह की घिनौनी मानसिकता समाज के लिए अभिशाप है।

सुधाकर पाण्डेय ने लिखा है– ''कंकाल में सामाजिक–धार्मिक संस्थाओं और इनसे जुड़े चरित्रों की प्रवंचनापूर्ण धार्मिकता, आडम्बरपूर्ण सेवावृत्ति, सज्जनता के मुखौटे में छिपी पाशविक वृत्ति और ग्रंथिल कामभावना की शल्यक्रिया की गई है।''8

प्रसाद 'कंकाल' के बहाने समाज की कुप्रथाओं की ओर इशारा करते हैं। प्रत्येक काल में समाज विकृतियों में डूबा रहता है। मानवता कराहती रहती है। सामाजिक संतुलन की घोर कमी देखी जा सकती है। हमारे विचारों में तमस की प्रधानता होने लगी है।

मनुष्य की पाप–क्रिया को देखते हुए ही प्रसाद ने लिखा है– ''तुम्हें चित्त–शुद्धि की आवश्यकता है। जाओ सेवा में लगो, समाज–सेवा करके अपना हृदय शुद्ध बनाओ। जहाँ स्त्रियाँ सताई जाएँ, मनुष्य अपमानित हों, वहाँ तुमको अपना दंभ छोड़कर कर्त्तव्य करना होगा। इसे दंड न समझो, प्रायश्चित न समझो। यही तुम्हारा क्रियमाण कर्म है। जाओ। पुरुषोत्तम ने लोकसंग्रह किया था, वे मानवता के हित में लगे रहे, अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध सदैव युद्ध करते रहे। अपने किये हुए अन्याय के विरूद्ध तुम्हें अपने से लड़ना होगा। उस असुर को परास्त करना होगा। गुरूकुल को भेज दो;, तुम अबलाओं की सेवा में लगो। भगवान् की भूमि भारत में स्त्रियों पर तथा मनुष्यों को पतित बनाकर बड़ा अन्याय हो रहा है। करोड़ों मनुष्य जंगलों में अभी पशु–जीवन बिता रहे हैं। स्त्रियाँ विपथ पर जाने के लिए बाध्य की जाती हैं, तुमको उनका पक्ष लेना पड़ेगा।''9

प्रसाद इस उपन्यास में यथार्थ की नग्नता तक पहुँचते हैं। उन्होंने समाज की समस्य चिंतनशील समस्याओं को यहाँ दिखाया है। व्यंग्य की क्रूरता भी इस उपन्यास की नवीनता को दिखाती है। समस्याएँ पैनी हैं जो मारक बन पड़ती हैं।

हिन्दू स्त्रियों के सन्दर्भ में उन्होंने जो बयां किया है वह काफी व्यंग्यपूर्ण है। उन्होंने लिखा है– ''हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए सोचना विचारना चाहिए। और, जहाँ अंध–अनुसरण करने का आदेश

है, वहाँ प्राकृतिक, स्त्री–जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है– जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं– उसे क्यों छोड़ दूँ ! यह कैसे हो, क्या हो और क्यों हो– इसका विचार पुरुष करते हैं। वे करें, उन्हें विश्वास बनाना है, कौड़ी पाई लेना रहता है और स्त्रियों को भरना पड़ता है। तब, इधर–उधर देखने से क्या ? 'मरना है' – यही सत्य है। उसे दिखावे के आदर से ब्याह करके भरा लो या व्यभिचार कहकर तिरस्कार से। अधमर्ण की सांत्वना के लिए यह उत्तमर्ण का शाब्दिक, मौखिक प्रलोभन या तिरस्कार है।''10

यह स्थिति आज भी स्त्रियों के साथ है। वह प्रायः मर्दों की अधीनता में ही अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है। इस तरह का एक प्रसंग और भी है। इस उपन्यास में प्रसाद ने स्त्री–मुक्ति का प्रश्न भी बेबाकी से उठाया है। घंटी और विजय के माध्यम से यह प्रश्न यद्यपि सरल बन गया है।

घंटी कहती है– ''समझे विजय ! मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। तुम ब्याह करके यदि उसका प्रतिदान करना चाहते हो, तो भी मुझ कोई चिंता नहीं। यह विचार तो मुझे कभी सताता ही नहीं। मुझे जो करना है, वही करती हूँ, करूँगी ही। घूमोगे घूमूँगी, पिलाओगे पीऊँगी, दुलार करोगे हँस लूँगी, ठुकराओगे रो दूँगी। स्त्री को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता है। मैं इन सबों को समभाव से ग्रहण करती हूँ और करूँगी।''11

स्त्री की दशा आज भी समाज में कुछ वैसी ही है जैसे सौ–दो सौ साल पहले थी। यद्यपि संभ्रांत स्त्रियों में खुलापन आ गया है, लेकिन उन पर पुरुषों की कुदृष्टि बनी रहती है। यह समानता के नाम पर समाज को कोढ़ ही है।

मनुष्य सुख प्राप्ति के लिए अपनी सीमा का सदैव अतिक्रमण करता रहा है। कभी मुखौटे धारण करता है तो कभी अक्षम्य अपराध भी कर डालता है। इस उपन्यास में प्रसाद ने बाथम का चरित्र हत्यारा के रूप में दिखाया है, लेकिन वह दोहरी जिन्दगी जीता है। कभी समाज को परोपकारी दिखाता है तो स्याह अंधेरे में वह खुद को हत्यारा बना लेता है।

प्रसाद ने प्रसंगवश लिखा है– ''बाथम् ! तुम जितने भीतर से क्रूर और निष्ठुर हो, यदि ऊपर से भी वही व्यवहार रखते, तो तुम्हारी मनुष्यता का कल्याण होता ! तुम अपनी दुर्बलता को परोपकार के पर्दे में क्यों छिपाना चाहते हो ! नृशंस ! यदि मुझमें विश्वास की तनिक भी मात्रा न होती, तो मैं अधिक सुखी रहती ।''12

यह समाज का सच है। जो चेहरा मानवीयता का दिखता है वह भीतर ही भीतर क्रूर भी होता है। मनुष्यता की आड़ में आज कई ऐसे कार्य किए जा रहे हैं जो मनुष्यता के लिए घातक है।

प्रसाद अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही समाज से यथार्थ का चयन करते हैं। एक मनस्वी और चिंतनशील लेखक की तरह वे समाज के सभी पक्षों पर विचार करते हैं। वे साहित्यिक और शास्त्रीय दृष्टि से समाज का मूल्यांकन करते हैं। भारतीय मानस में रचे–बसे गलत व्यवहारों और संस्कारों का मूल्यांकन कर उसका हल भी प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है– ''संसार अपने–अपने सुख की कल्पना पर खड़ा है– यह भीषण संसार अपनी स्वप्न की मधुरिमा का स्वर्ग है।''13 निश्चय ही समाज के प्रति प्रसाद का यह उत्कृष्ट आकलन है। इस उपन्यास में प्रसाद जगह–जगह उपस्थित होकर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं जिससे यह उपन्यास एक विचार–प्रधान उपन्यास भी बन पड़ा है। ये विचार यथार्थ की कसौटी पर पूर्णतः सत्य है।

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित ने लिखा है– ''वास्तविक रूप से इस कृति में उन्होंने लघुत्व की ओर दृष्टि दौड़ाई है। यहाँ कुछ भी महत्, उदात्त और विशिष्ट नहीं है। प्रत्येक चरित्र अस्थि मांस का प्राणी है, जिसके अंदर मनुष्यत्व की भी मात्रा है और राक्षसत्व की भी। अंत में 'भारत संघ' की स्थापना– वस्तुतः एक विधेयात्मक प्रयास है, जिससे भ्रष्ट वर्ण–व्यवस्था का सुधारवादी रूप प्रकट हुआ है। कंकाल के पात्र, जिनका जन्म ही समाज निषिद्ध था तथा जिनके जीवन संघर्ष का क्रम भी सामाजिक दृष्टि से दुर्बलताओं से भरा हुआ था– 'लेखक की विद्रोहात्मक भावना के प्रतीक है। यहाँ 'प्रसाद' की बुद्धिवादी प्रेरणा सक्रिय हुई है। बुद्धिवादी विजय का 'कंकाल' समाज की रूढ़ मान्यताओं के मार से दबी हुई व्यक्ति चेतना के शवों का प्रतीक है। इस कारण इसमें प्रथम बार यथार्थवादी प्रवृत्ति प्रकट हुई है।''14

निश्चित ही कंकाल में सामाजिक यथार्थ का विविध पक्ष वर्णित है। उसकी विद्रूपता और विकृति हमें अंदर तक उद्वेलित करती है। जाति धर्म और वर्ण व्यवस्था के ग्रस्त इस समाज को डरा–सहमा देखना विचलित करता है। प्रसाद का चिंतन समाज के प्रत्येक कोणों को लेकर है। पारिवारिक विघटन, नारी की स्थिति को लेकर प्रसाद ने एक नई दृष्टि प्रस्तुत की है।

लेखक ने जो यथार्थ व्यक्त किया है। उसे बीच–बीच में देखा जा सकता है।'' भारतवर्ष आज वर्णों और जातियों के

बंधन में जकड़कर कष्ट पा रहा है और दूसरों को कष्ट दे रहा है।''15 भगवान को लेकर उन्होंने जो कहा है। वह भी यथार्थ से पूर्ण है– ''भगवान् की विभूतियों को समाज ने बाँट लिया है; परन्तु जब मैं स्वार्थियों को भगवान् पर भी अपना अधिकार जमाये देखता तब मुझे हँसी आती है। और भी हँसी आती है– जब उस अधिकार की घोषणा करके दूसरों को वे छोटा, नीच और पतित ठहराते हैं''16

कंकाल का उद्देश्य समाज की मुक्ति है। तभी तो नन्द दुलारे वाजपेयी ने लिखा है– ''कंकाल की आत्मा, व्यक्ति की मुक्ति की आवाज़ उठाती है; किन्तु वह किसी ओर से पूर्णतः परिफलित होती नहीं दीखती। इस तथ्य की ओर हमें दुबारा ध्यान देने की आवश्यकता है। यहीं से कंकाल आजकल के पश्चिमी बुद्धिवादियों की कृतियों से अलग हो जाता है, जो अपने निरूपित सिद्धांत से एक इंच भी घटना बढ़ना नहीं जानते और जिनकी आधार शिला बौद्धिक तर्कों पर ही स्थित होती है, मानवीय परिस्थितियों पर नहीं।''17 इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए नन्द दुलारे वाजपेयी ने पुनः लिखा है– ''कंकाल हमें सुझाता है कि यह एक समाजव्यापी विद्रोह द्वारा ही गतिशील हो सकेगा और यह विद्रोह प्रारम्भ में स्वभावतः व्यक्तिगत ही हो सकता है। यही संक्षेप में कंकाल का व्यक्तिवादी निर्देश या संदेश हैं। जैसी स्थिति है, उसे देखते हुए न तो हमें बहुमत का सहारा है और न राजकीय शक्ति की ही सहायता है। ऐसी अवस्था में हमारे व्यक्तिगत प्रयास ही हमें इष्ट की ओर ले जायेंगे और व्यक्तिगत प्रयास के लिए बौद्धिक स्वाधीनता अत्यावश्यक है। कंकाल अपनी सारी शक्ति इसी अर्थ लगा देता है; इसलिए हम कह सकते हैं कि वह युग के अनुकूल साहित्य–सुष्टि है।''18

देखा जाए तो 'कंकाल' का यथार्थ समाज का नग्न यथार्थ है। एक ऐसे समाज का जो पाखंड पूर्ण है। यह उपन्यास वास्तव में एक विचार–प्रधान उपन्यास है जिसमें मध्यवर्गीय समाज के जीवन को यथार्थ रूप में देखने का प्रयास किया गया है। प्रसाद ने जीवन और समाज के मध्य व्याप्त संघर्ष को विभिन्न प्रसंगों से दिखाया गया है। निश्चित ही यह उपन्यास समाज और व्यक्ति की समस्याओं को तटस्थता के साथ देखा है और उसके हल को भी प्रस्तुत किया है। यह कहना उचित होगा कि 'कंकाल' यथार्थ की चेतना का उन्नत प्रयोग है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूचीः–

1. डॉ0 सुरेश गौतम : प्रसाद साहित्य कोश – खण्ड – 4, उपन्यास दिव्यम् प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण, 2012, पृ0 सं0 30
2. रामरतन भटनागर : प्रसाद साहित्य और समीक्षा, साहित्य प्रकाशन दिल्ली, संस्करण, 1958, पृ0 सं0 175
3. डॉ0 सुरेश गौतम : प्रसाद साहित्य कोश – खण्ड – 4, उपन्यास यात्रा दिव्यम् प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण – 2012, पृ0 सं0 67
4. वही, पृ0 सं0 70–71
5. सम्पादक, सुधाकर पाण्डेय : प्रसाद साहित्य नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण – 2048 विक्रमी काशी, पृ0 सं0 160
6. डॉ0 सुरेश गौतम : प्रसाद साहित्य कोश खण्ड – 4 उपन्यास यात्रा, दिव्यम् प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सं0 2012, पृ0 सं0 96
7. वही, पृ0 सं0 96
8. सम्पादक, सुधाकर पाण्डेय : प्रसाद साहित्य नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण – 2048 विक्रमी काशी, पृ0 सं0 162
9. डॉ0 सुरेश गौतम : प्रसाद साहित्य कोश खण्ड – 4 उपन्यास यात्रा, दिव्यम् प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सं0 2012, पृ0 सं0 153
10. प्रो0 सूर्य प्रसाद साहित्य : प्रसाद समग्र, हिंदी संस्थान लखनऊ संस्करण, 2006, पृ0 सं0 69
11. डॉ0 सुरेश गौतम : प्रसाद साहित्य कोश खण्ड – 4 उपन्यास यात्रा, दिव्यम् प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सं0 2012, पृ0 सं0 235
12. नंद दुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण – 2013, पृ0 सं0 39

दिनेश (शोधार्थी)
विभाग – हिन्दी
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़